जनसत्ता

उड़ान का संकट

भारत का विमानन क्षेत्र ऐसे वक्त में संकटों का सामना कर रहा है जब हवाई यात्रा करने वालों की संख्या में वृद्धि का दावा किया जा रहा है, कई शहरों के बीच उड़ान शुरू करने की तैयारी है और नए हवाई अड्डे बनाने की दिशा में काम चल रहा है। ऐसे में विमानन कंपनियों से हर कोई यह उम्मीद करता है कि वे और बेहतर सेवा प्रदान करें। लेकिन हकीकत में ऐसा हो नहीं रहा। ऊंचाइयां छूने के बजाय भारत की विमानन कंपनियां गर्त में जा रही हैं। कई विमानन कंपनियों की माली हालत बता रही है कि आने वाले दिन इनके लिए संकटपूर्ण हैं और हवाई यात्रा करने वालों के लिए निराशाजनक। ताजा उदाहरण निजी क्षेत्र की कंपनी जेट एअरवेज का है। यह कंपनी गहरे आर्थिक संकट में फंस चुकी है और इसके आधे से ज्यादा विमान खड़े हो गए हैं। एक सौ उन्नीस में से सिर्फ इकतालीस विमान उड़ान पर हैं। कंपनी ने जिन विमानों को लीज पर लिया था, उनका किराया चुकाने तक के पैसे नहीं हैं। एक हजार से ज्यादा पायलटों और इंजीनियरों को कई महीने से वेतन नहीं मिल रहा है। इसलिए अब पायलटों ने एक अप्रैल से काम बंद करने की धमकी दे डाली है। हालात इतने विकट हैं कि जेट एअरवेज और नागरिक उड्डयन महानिदेशालय (डीजीसीए) के हाथ-पैर फूले पड़े हैं। समस्या का समाधान किसी को नजर नहीं आ रहा।

जेट एअरवेज का यह संकट विजय माल्या की कंपनी किंगफिशर की याद दिलाता है। किंगफिशर भी ऐसे ही संकट में फंसी थी और उसका क्या हश्र हुआ, किसी से छिपा नहीं है। किंगफिशर के बंद होने पर हजारों लोग बेरोजगार हो गए थे, कर्मचारियों को वेतन व अन्य बकाया का भुगतान तक नहीं हुआ और कंपनी पर बैंकों का नौ हजार करोड़ से ज्यादा कर्ज चढ़ गया। आज विजय माल्या पकड़ से बाहर है और बैंकों का पैसा मिल भी पाएगा या नहीं, कोई नहीं जानता। अब जेट एअरवेज भी इसी रास्ते पर है। इस कंपनी पर भी आठ हजार करोड़ से ज्यादा का कर्ज है, कर्मचारियों को वेतन नहीं मिल रहा, कंपनी बैंकों का कर्ज और लीज पर विमान देने वाली कंपनियों का पैसा नहीं चुका पा रही है। जेट में चौबीस फीसद हिस्सेदारी अबू धाबी की एतिहाद एअरलाइंस की है, लेकिन जेट एअरवेज की मदद के प्रस्ताव पर एतिहाद पीछे हट गई है। ऐसे में सरकार के दबाव में बैंकों का समूह जेट में अपनी हिस्सेदारी खरीद कर मदद देता भी है तो यह बैंकों के लिए बड़ा जोखिम होगा। सवाल है कि जर्जर हो चुकी जेट को ऐसे बेलआउट से कितने दिन और ऑक्सीजन दी जा सकेगी!

जेट एअरवेज के मौजूदा संकट से विमान यात्री मुश्किल में हैं। आए दिन उड़ानें रद्द हो रही हैं। कंपनी न तो कोई वैकल्पिक सेवा मुहैया करवा रही है, न लोगों के पैसे लौटा रही है। इसमें बड़ी संख्या उन लोगों की भी है जिन्होंने कंपनी के विशेष पैकेज के तहत कई महीने पहले बुकिंग करा ली थी। लेकिन अब इन लोगों का पैसा नहीं लौटाया जा रहा। जेट के विमानों की सुरक्षा का मुद्दा भी चिंताजनक है। कहा जा रहा है कि ज्यादातर विमान सुरक्षा संबंधी मानकों को पूरा नहीं कर रहे। जेट और किंगफिशर के हालात बताते हैं कि भारत के विमानन क्षेत्र को भी वही रोग लग गया है, जिसके शिकार देश के ज्यादातर सार्वजनिक उपक्रम हो चुके हैं। स्पाइस जेट, एअर इंडिया और इंडिगो भी कोई स्वस्थ हालत में नहीं हैं। लगता है किंगफिशर की घटना से हमने कोई सबक नहीं सीखा। ऐसे में विमानन क्षेत्र कैसे ऊंची उड़ान भर पाएगा?

होली में सियासत

सत्रहवीं लोकसभा के चुनाव की घोषणा दस दिन पहले हो जाने का एक असर यह हुआ कि होली के पहले ही हवा में राजनीति की उथल-पुथल घुलने लगी और नेताओं की जुबान से फूटे बोल पर फागुन का नशा सिर चढ़ कर बोलने लगा। दरअसल, चुनावी मौसम की औपचारिक दस्तक के पहले से ही देश के राजनीतिक माहौल में जिस तरह की गरमाहट की आहट सुनाई पड़ने लगती है, वह हर गुजरते दिन के साथ धमक और फिर धमकियों तक में तब्दील होती जाती है। इस क्रम में नेताओं के मुंह से अपने प्रतिद्वंद्वियों के लिए जैसी बातें निकलने लगती हैं, उससे कई बार यह लगने लगता है कि मामला किसी सीट पर चुनाव का है या दुश्मन देश पर जुबानी मिसाइलों से हमलों का! बोली और भाषा की ऐसी कड़वाहट से पैदा गरमी का तापमान कई बार नेताओं की जुबान से कुछ ऐसे बोल भी बरसा जाता है, जिसके छींटे कई बार उलटा असर करते हैं और ऐसा बोलने वाले नेता रूमाल की छांव से अपना चेहरा ढकने की नाकाम कोशिश करते दिखते हैं। सवाल है कि सत्ता की कुर्सी के लिए चुनाव के चक्कर में जुबानी तलवार भांजने के क्रम में अपने प्रतिद्वंद्वियों की गर्दन का खयाल न रखा जाए तो इसका दर्द समझा जा सकता है, लेकिन ऐसे बेलगाम बहादुरों को कम से कम अपने चेहरे का खयाल रखने से कौन मना करता है!

यह छिपा नहीं है कि आजकल ऐसे चुनावी हकीम दिहाड़ी पर भी मिल जाते हैं, जो एक साथ अपने दुश्मनों पर हमला करने और उन्हें बचाने के भी नुस्खे बांचते और बेचते हैं! देखा जाए तो ऐसे चुनावी हकीम होली के मूल संदेश को अपने साथ रख कर बाजार में बैठते हैं कि जुबानी जंग करा सकते हैं तो आपस में जोड़ भी सकते हैं। मगर हमारे देश की राजनीतिक संस्कृति में अभी इस बात की फिक्र कम दिखाई देती है कि एक लोकतांत्रिक ढांचे में सत्ता के लिए होने वाले द्वंद्व को इस शक्ल में बनाए रखा जाए कि कल को एक-दूसरे के साथ अगल-बगल बैठने से पहले झेंपने की नौबत न आए। दरअसल, मुश्किल तब खड़ी होती है जब मुद्दों की बुनियाद आम अवाम की जिंदगी के हालात को बेहतर बनाने के बजाय अपने प्रतिद्वंद्वी की छवि को ध्वस्त करने वाले जुमलों पर टिकी होती है। इस भाव को सहारा मानने की मजबूरी में पड़े परस्पर विरोधी खेमों के नेता जनता की तकलीफों और समस्याओं की जगह निजी हमलों को हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं। ऐसे में कई बार जुबान की लगाम छूट जाती है और अगले ही रोज इस तरह के बयान से खुद को बचाना पड़ता है कि 'अगर मेरी बातों से किसी की भावना आहत हुई है तो मैं खेद जताता हूं!'

दरअसल, होली और सियासत के असर का एक बड़ा फर्क यह है कि होली में एक-दूसरे पर उड़ेले गए रंग या तंज जहां आपसी रिश्ते में विनोद से उपजा प्यार घोलते हैं, वहीं हमारी आज की राजनीतिक दुनिया में कई बार नेताओं के बोल से उनके विपक्षी भीतर तक चोटिल हो जाते हैं और इसका सीधा असर उनके सामान्य व्यवहार और संबंधों पर पड़ता है। सवाल है कि अनजान लोगों से लेकर टूटे रिश्तों तक के मेलजोल के त्योहार होली को अपनी खूबसूरत जायदाद मानने वाले हमारे देश के नेता क्या होली के सौहार्द की बुनियाद को एक जरूरी सबक नहीं मान सकते? क्या वे अपने प्रतिद्वंद्वियों के लिए ऐसा बर्ताव और ऐसी भाषा का सहारा नहीं ले सकते जो उनके राजनीतिक मकसद को तो पूरा करे, साथ ही आम अवाम के दिल के तार को एक-दूसरे से जोड़े और आपसी सौहार्द के रंग निखरते रहें?

कल्पमेधा

करुणा में शीतल अग्नि होती है जो क्रूर से क्रूर व्यक्ति का हृदय भी आर्द्र कर देती है।
-सुदर्शन

लोकपाल और चुनौतियां

प्रमोद भार्गव

भ्रष्टाचार की व्यापकता और उसकी स्वीकार्यता जिस अनुपात में समाज में व्याप्त हो चुकी है, उसका निर्मूलन इस अकेले कानून से संभव नहीं है। इसके बावजूद अब लोकपाल अस्तित्व में आ गया है तो उम्मीद की जानी चाहिए कि निरंकुश जनप्रतिनिधियों और प्रशासनिक अधिकारियों पर कठोर कार्रवाई संभव होगी।

अड़तालीस साल बाद देश को लोकपाल मिला है। लोकपाल के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली चयन समिति ने सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश पिनाकी चंद्र घोष का नाम तय किया था। राष्ट्रपति ने मंगलवार को इसे विधिवत मंजूरी दे दी। अब भारत में लोकपाल नाम की संस्था अस्तित्व में आ गई है। साढ़े पांच साल पहले लोकपाल कानून बन जाने के बावजूद लोकपाल की नियुक्ति नहीं हो पा रही थी। लोकपाल की नियुक्ति की जो प्रक्रिया है, उसमें विपक्ष के नेता को भी एक सदस्य के रूप में शामिल किए जाने का प्रावधान है। 2014 के आम चुनाव के बाद लोकसभा का जो गणित बना था, उसमें किसी भी दल की विपक्ष के नेता का दर्जा पाने की हैसियत नहीं रही। हालांकि कांग्रेस चवालीस सदस्यों के साथ लोकसभा में सबसे बड़ा विपक्षी दल है, पर सदन में उसी पार्टी का नेता प्रतिपक्ष बनता है, जिसके लोकसभा के कुल सदस्यों की संख्या कम से कम दस फीसद हो। लिहाजा, कांग्रेस के नेता मल्लिकार्जुन खड़गे को लोकसभा अध्यक्ष ने प्रतिपक्ष का नेता मानने की कांग्रेस की अपील खारिज कर दी थी। हालांकि न्यायालय ने 2017 में दिए एक फैसले में स्पष्ट कर दिया था कि संसद में सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी का नेता ही, नेता प्रतिपक्ष कहलाएगा। सुप्रीम कोर्ट के निर्देश पर लोकसभा में कांग्रेस सबसे बड़ा विपक्षी दल था, इसलिए उसके नेता खड़गे को केंद्र सरकार ने समिति का विशेष आमंत्रित सदस्य बना दिया। किंतु खड़गे ने यह सदस्यता स्वीकार नहीं की, नतीजतन वे समिति की बैठक में हाजिर नहीं हुए। बहरहाल, लोकपाल आंदोलन के जनक अण्णा हजारे के आंदोलन ने अंततः देश को पहला लोकपाल दे दिया।

गांधीजी ने कहा था, 'सच्चा स्वराज थोड़े से लोगों द्वारा सत्ता हासिल कर लेने से नहीं, बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग हो, तब सब लोगों द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता जगा कर ही प्राप्त किया जा सकता है।' इस नजरिए से राजकाज में बदलाव लाने का यह सक्रिय हस्तक्षेप और इसकी प्रासंगिकता दोहराई जाती रहनी चाहिए, जिससे इस प्रक्रिया के माध्यम से भारतीय लोकतंत्र ने जो उपलब्धि हासिल की है, उसकी निरंतरता बनी रहे। भ्रष्टाचार की व्यापकता और उसकी स्वीकार्यता जिस अनुपात में समाज में व्याप्त हो चुकी है, उसका निर्मूलन इस अकेले कानून से संभव नहीं है। इसके बावजूद अब लोकपाल अस्तित्व में आ गया है तो उम्मीद की जानी चाहिए कि निरंकुश जनप्रतिनिधियों और प्रशासनिक अधिकारियों पर कठोर कार्रवाई संभव होगी।

लोकपाल से संबद्ध जो पूरक विधेयक लंबित हैं, उनके प्रारूप को भी वैधानिक दर्जा मिलना जरूरी है। तभी लोकपाल जैसे सशक्त प्रहरी की वास्तविक सार्थकता सामने आएगी। लोकसेवकों की कार्यप्रणाली में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व के समावेश भी तभी परिलक्षित होंगे। अगर विपक्ष या सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा जन हस्तक्षेप कालांतर में जारी नहीं रहता है तो लोकपाल जनता की उम्मीदों पर खरा उतरने वाला नहीं है। केंद्र सरकार की लोकपाल के बाबत शिथिलता के चलते यह अनुभव हुआ है कि संसद में किसी एक दल को असाधारण बहुमत मिलना भी लोकहित में लाभदायी नहीं है। जबकि सच्चाई यह है कि ऐसी ही स्थिति में लोकपाल की अधिक जरूरत है, जिससे लोकसेवक भय का अनुभव करते रहें। हमारे देश में 1963 में पहली बार लोकपाल की अवधारणा सामने आई थी।

भारत में भ्रष्टाचार ने सरकारी विभागों से लेकर सामाजिक सरोकारों से जुड़ी सभी संस्थाओं को अपनी चपेट में ले लिया है। शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी मानवीय मूल्यों से जुड़ी संस्थाएं भी इससे अछूती नहीं हैं। नौकरशाही को तो छोड़िए, देश व लोकतंत्र की सर्वोच्च संस्था संसद की संवैधानिक गरिमा बनाए रखने वाले सांसद भी सवाल पूछने और चिट्ठी लिखने के एवज में रिश्वत लेने से नहीं हिचकिचाते। न्यायाधीशों को भी कदाचार के कठघरे में लाया गया है। जाहिर है, भ्रष्टाचार लोकसेवकों के जीवन का एक तथ्य मात्र नहीं, बल्कि शिष्टाचार के मिथक में बदल गया है। जनतंत्र में भ्रष्टाचार की मिथकीय प्रतिष्ठा उसकी हकीकत में उपस्थिति से कहीं ज्यादा घातक इसलिए है कि मिथ हमारे लोक-व्यवहार में आदर्श स्थिति के नायक-प्रतिनायक बन जाते हैं। राजनीतिक व प्रशासनिक संस्कृति का ऐसा क्षरण राष्ट्र को पतन की ओर ही ले जाएगा। इसीलिए साफ दिखाई दे रहा है कि सत्ता पक्ष की गड़बड़ियों पर सवाल उठाना, संसदीय विपक्ष के बूते से बाहर होता जा रहा है। विडंबना यह है कि जनहित से जुड़े सरोकारों के मुद्दों को सामने लाने का काम न्यायपालिका को करना पड़ रहा है।

राजनीतिक संस्कृति के इस क्षरण और पतन को रोकने का पहला दायित्व तो उस विधायिका का था, जो रामलीला मैदान में अण्णा आंदोलन के चरम उत्कर्ष पर पहुंचने के दौरान, संसद की सर्वोच्चता और गरिमा का स्वांग तो रच रही थी, लेकिन जनता को दोषमुक्त शासन-प्रणाली देने की दृष्टि से एक कदम भी कानूनी प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ा रही थी। इसमें कोई दोराय नहीं कि संविधान के अनुसार संसद हमारे राष्ट्र की सर्वोच्च विधायी शक्ति व संस्था है। लोकतांत्रिक राजनीतिक संरचना में उसी का महत्त्व सर्वोपरि है। लेकिन जिस तरह से वह व्यापक व समावेशी भूमिका निर्वहन में गौण होती चली जा रही है, उस परिप्रेक्ष्य में उसकी कार्य संस्कृति का प्रदूषित होते जाना तो था ही, जन सरोकारों से आंखें मूंद लेना भी था। संसद की गरिमा को नष्ट करने का काम विधायिका में स्थापित होती जा रही व्यक्ति केंद्रित राजनीतिक शैली ने भी किया है। राजनेताओं की उम्मीदवारी का निर्धारण आर्थिक व जातीय हैसियत से किए जाने के कारण भी, इस जनतांत्रिक व्यवस्था का क्षय हुआ है। राजनीति में अर्थ की महत्ता ने नैतिक सरोकारों को हाशिये पर खदेड़ दिया। संविधान निर्माताओं ने समता व न्याय पर आधारित और मानवीय गरिमा से प्रेरित भारतीय संप्रभुता के जो आदर्श स्थापित किए थे, उसकी अवहेलना इसी विधायिका ने की। संविधान-सम्मत कोई भी व्यवस्था कितनी भी श्रेष्ठ क्यों न हो, उसकी स्वीकार्यता तभी संभव होती है जब देश की जनता का बहुमत उसके साथ हो। डॉ भीमराव आंबेडकर ने 25 नवंबर 1949 को संविधान सभा की बैठक में कहा था, 'संविधान का कार्य पूर्णतः संविधान की प्रकृति पर निर्भर नहीं करता। संविधान सिर्फ विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को शक्ति देता है। राज्य के इन स्तंभों की क्रियात्मकता जिन कारकों पर अवलंबित है, वे हैं जनता-जनार्दन और राजनीतिक दल। उनकी आकांक्षाएं और राजनीति ही मुख्य निर्धारक आधार बिंदु हैं। जनता और दलों के भावी व्यवहार के बारे में कौन सटीक आकलन कर सकता है?' डा. आंबेडकर की यह आशंका सही साबित हुई। कालांतर में हमारे राजनीतिकों के व्यक्तित्व से सैद्धांतिक व्यवहार और आमजन के प्रति विश्वास दुर्लभ तत्त्व होते चले गए।

राजनीति परिणाममूलक रहे, इसके लिए जरूरी है कि राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था लोक की निगरानी में रहें। जरूरत पड़ने पर आंदोलन भी होते रहें। इसी के समांतर विधायिका और कार्यपालिका का दायित्व बनता है कि जनतंत्र से उपजने वाली असहमतियों का वे सम्मान करें और उसके अनुरूप चलें, क्योंकि भारतीय प्रजातंत्र में अब तक बड़े समुदायों को लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं से जुदा रखा गया है। कानून बनाने में उनकी सलाह या साझेदारी को स्वीकार नहीं किया गया। लिहाजा, कानूनों को जन समुदायों पर ऊपर से थोप दिया जाता है। पंचायती राज प्रणाली का भी यही हश्र हुआ। कुछ ऐसी ही वजहें रहीं कि लोकतंत्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'संविधान' और सर्वोच्च संस्था 'संसद' वास्तविक व्यवहार में जनता से दूरी बनाते चले गए और इनसे प्रदत्त अधिकार विशेषाधिकार प्राप्त सांसदों व विधायकों में सिमटते चले गए। इस परिप्रेक्ष्य में लोकपाल कितना सुधार कर पाते हैं, यह भविष्य में देखने में आएगा।

उत्सव के संग

पूरन सरमा

फागुन बौरा रहा है और मस्ती में इठला रहा है। यह शोख जो कर दिखाए, वह कम है। पलाश वनों में आग लगा दी है इसने। हवा चलती है तो नश्तर-सा चुभो देती है। वन-उपवन एक मादक गंध से भरे हुए हैं। वह चांदी की धार वाली नदी इतराती भाग रही है और कोयल की मीठी बोली आम्रकुंजों में गूंज रही है। यह फागुन ही है, जिसने नया उल्लास और उमंग भर दिया है मानव मन में। पपीहा का राग प्रेम का प्रतीक बन कर हल्की हंसी बिखेर देता है सबके होंठों पर। फागुन मानो चिकोटी काट जाता है। सरसों पूरी की पूरी पीत रंग से भर गई है और खेत-खलिहानों में सनसनाता है अठखेलियां करता फागुनी राग। मनुहार की बेला को साथ लाया है मधुमास। कहीं दूर कोई अलगोजे पर गा रहा है फागुनी गीत और आसमान से उतर रहा है इस मौसम का संगीत।

वह कौन फूल या कली है, जो इसे छूकर खिल न गई हो! सुगंध से सराबोर हो गए हैं गांव के गांव और ढप की थाप ने दिया है चौपालों को नया रंग। इसी का कमाल है कि माधवी और मोगरे की जुगलबंदी देखते ही बनती है और मौलश्री झर रही है अपने आप। अचेतन पहाड़ी में भर उठा है नया उच्छवास। आम बौरा रहा है और नए पत्तों की पांत जरा-सी हवा से भी हिल-डुल जाती है। प्रेम का पहाड़ा याद करने की उम्र ने लहलहाते खेतों के द्वार पर दस्तक दी है। फागुन कहां नहीं है, कोई कह नहीं सकता। गोचर-अगोचर को भर लिया है इस मनोहरी फागुन ने अपने पाश में और कोंपलों में फूटा है नया लावण्य। खुशबू के मेले लग गए हैं गांव के गालियारों में, क्योंकि जो हवा यहां आई है वह फूलों के रस से नहाकर सीधी चली आई है।

दुनिया मेरे आगे

कठफोड़वा आम के पेड़ में अपनी कारीगरी से बना रहा है अपना कोटर और हरियल तोतों की बारात पहले ही आ बैठी है बागों में। बहार ने अपना डेरा जमा लिया है गुलाब की क्यारी में। पपीहा बहक रहा है और पीहू-पीहू की रट लगाए ऋतु को दे रहा है प्यार की पहचान। वनिता बिहंसती हुई टेसू के रंग तैयार कर रही है। उसे पता है फगुनवा में होली है। उत्सव का राग। मोर ने नाचने की बदहवासी में सब कुछ भुला दिया है। पहाड़ों की बर्फ पिघल गई है और झरने का मधुर संगीत कर्णप्रिय बन कर नैनों में साकार है। कहीं दूर किसी बैरागी ने अपने मन की आवाज को सुन कर प्रेम का नया तराना छेड़ा है। बच्चे हों या युवा या बुजुर्ग, रंगों से भरी पिचकारी से रंग रहा है हर कोई। कौन गाता है यह रोज-रोज प्रेम से पगे गीत और कौन भरता है नए से नया रंग गमलों की पांतों में।

फागुन का समापन धूमधाम से होता है होली के रंगों से। होली और फागुन का रंग एक-सा है। 'फागुन में होली है' -रोज गाता है खलिहान। फागुन को पता है उसका साथी चैत भी लग जाएगा उसके साथ ही। होली रंग-बिरंगी है। ऐसे गहरे प्यारे रंग जो जम जाते हैं दिलों पर। छुड़ाए नहीं छूटते रंगों के निशान। होली के रंग न्यारे और नवीन हैं। मन न तो थकता है और ऊबता है। वह बौराया-सा रहता है। मीठे स्वाद से भरी होली की पदचाप फागुन के लगते ही पहचान लेता है हर किसी का मन। गाने दिया जाए मन को कोई प्रेम गीत और आने दिया जाए फगुनौटी को घर के द्वारे। सज गए हैं घर-बार वंदनवारों से।

होली के रंग से कौन बचा है! हर कोई भीग रहा है और उतर आया है ठिठोली के बीच। मन को पढ़ लेने की उम्र है युवाओं की, इसीलिए तो वे खिलखिलाते हुए गुलाल उड़ाते हैं। गुलाल, लाल-पीले-हरे-गुलाबी कई रंगों में और चेहरे पुत गए हैं इन्हीं रंगों में। सांसों में घुल गया है मौसम का शर्बत और प्यार का खुमार टूटे नहीं टूटता। अंधा है होली वाला रंग। बिना किसी भेदभाव के रंग डालता है छोटे-बड़े और हमउम्र को।

फागुन का रंग है होली और उसकी पहचान है होली। रंगों की मार और वस्त्रों में झांकता है होली का सतरंगी स्वरूप। मन माने नहीं मानता और खेलता है मनभावन रंगीली होली। फगुनवा में होली है, नहीं भूलता चेतन मन। मनुहार की इस बेला में प्रेम की होली खेलते हैं सब। रात को चांदनी के गीत गाता है रूपहला चितेरा बहुरूपिया फागुन। यही फागुन वाला राग अलापा है फूलों के दल पर भंवरों ने। प्रकृति और मानव मन का अटूट बंधन है फागुन और होली। वसंत यहां तक चला आया है अपना मदनोत्सव रूप लेकर। फाग और होली गाते हुए थकता नहीं है फागुन का सुहाना मौसम। दूरियां मिट गई हैं और सब एक-दूसरे के आसपास महसूस कर रहे हैं अपनापन। मन यही तो गाएगा- 'फगुनवा में होली है।'

जीवन के रंग

हम सबके जीवन में रंग अलग-अलग रूपों में मौजूद होते हैं। जिंदगी इन रंगों के मिलने के बाद ही पूरी तरह रंगीन होती है। मसलन, किसानों का जीवन उनकी फसल अच्छी होने से रंगीन होता है, युवाओं का जीवन शिक्षा के बाद नौकरी से रंगीन होता है, माता-पिता का जीवन अपने बच्चों की कामयाबी को देखकर रंगीन होता है, कारोबारी का जीवन कारोबार को एक नए मुकाम पर पहुंचा कर रंगीन होता है, राजनेताओं का जीवन सत्ता का इंतजार खत्म होने के बाद रंगीन होता है। इन सभी के रंगों को मिलाने के बाद ही कहीं एक राष्ट्र का भविष्य रंगीन होता है। मौसम चुनावी है, इसलिए रंगों की बौछार हर तरफ से होना स्वाभाविक है। बस उम्मीद यही करनी करनी चाहिए कि ये रंग भाषा की मर्यादा में रह कर डाले जाएंगे।

होली हमें सीख देती है कि सबको प्रेमभाव के साथ रहना चाहिए। जब भी हम बंट कर रहेंगे, हमेशा खुद को कमजोर और लाचार पाएंगे। ग्रामीण इलाकों में आज भी जो सामूहिकता और समरता है, उसका अभाव शहरों में दिखाई पड़ता है। यूपी-बिहार जैसे राज्यों में होली पर बनने वाले पकवान पड़ोसियों के घर पहुंचाने की परंपरा आज भी चली आ रही है। होली के दिन लोग जब रंग खेलने निकलते हैं तो रिश्तों की आत्मीयता और मर्यादा का खयाल रखते हुए एक-दूसरे को रंग लगाते हुए आगे चलते जाते हैं। इस त्योहार की खासियत यही है कि इसमें कोई बुरा नहीं मानता। पर फिर भी हमें सभ्य व्यवहार के साथ रंग खेलना चाहिए। हालांकि आजकल के त्योहार कुछ ज्यादा ही डिजिटल हो चुके हैं। होली के कई दिन पहले से ही होली के संदेशों से फोन भर जाते हैं। हकीकत यह भी है कि सोशल मीडिया पर होली की क्रांति छेड़ने वाले होली के दिन सड़कों पर निकलने की हिम्मत नहीं जुटा पाते।

● *रोहित यादव, महर्षि दयानंद विवि, रोहतक*

यह सबक

इसमें कोई संदेह नहीं कि जाति और धर्म भारतीय राजनीति में सबसे बड़े कारक हैं। हम हर बार देखते हैं कि राजनीतिक दल किसी निर्वाचन क्षेत्र से अपना उम्मीदवार घोषित करने से पहले उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों की जाति और धर्म को विशेष रूप से प्राथमिकता देते हैं। इसके बावजूद वे बड़ी शान से कहते हैं कि 'हम जाति और धर्म की राजनीति नहीं करते।' देश को आजाद हुए सत्तर साल से भी ज्यादा समय हो गया है लेकिन ये राजनीतिक बुराइयां कम होने के बजाय भारतीय राजनीति पर लगातार ज्यादा हावी होती जा रही हैं। ऐसे में बड़ा सवाल है कि क्या भारतीय युवा भी इस बुराई का साथ देंगे या एक नई सोच के साथ मतदान करेंगे ताकि इस तरह की राजनीति को बढ़ावा देने वाले राजनीतिक दलों को एक करारा जवाब मिल सके। ऐसा जवाब देकर ही हम राजनीतिक दलों को भविष्य में जाति और धर्म की राजनीति न करने का सबक सिखा कर अपने लोकतंत्र को एक नई मजबूती दे सकते हैं।

● *चंद्रशेखर मीना, बीएचयू, वाराणसी*

नस्लीय जहर

दुनिया भर में मनुष्यता के प्रति घृणा, नस्लीय श्रेष्ठता का दंभ, रंगभेद, दलितों और समाज के उपेक्षित वर्गों के प्रति नफरत और वैमनस्य के बीज बोने वाली ताकतें फिर से सिर उठा रही हैं। इन ताकतों द्वारा नफरत की विचारधारा के जबर्दस्त प्रचार-प्रसार के कारण विश्व में प्रेम, भाईचारे, सहिष्णुता, मानवता, दया आदि भावनाओं की जगह प्रतिशोध और नफरत की आग तेजी से फैल रही है। नतीजतन, वे देश भी अब आतंकवाद के शिकार हो रहे हैं, जहां अब तक 'सब कुछ शांत' और 'सौहार्दपूर्ण वातावरण' रहा है, चाहे वह नीदरलैंड हो या न्यूजीलैंड जैसा प्राकृतिक खूबसूरती से लबालब, शांत और अमनचैन से रह रहा देश।

न्यूजीलैंड की दो मस्जिदों में एक अट्ठाईस वर्षीय आस्ट्रेलियाई युवक द्वारा अंधाधुंध फायरिंग करके पचास निर्दोष लोगों की हत्या करना इन्हीं नस्लीय और वर्णीय वैमनस्य फैलाने वाली दक्षिणपंथी ताकतों के प्रचार से उपजे गोरे आतंकवाद का एक नया नमूना है। इस तरह का नस्लीय जहर फैलाने वाले समूह यूरोप के कई देशों मसलन इटली, ग्रीस आदि में बहुत तेजी से सिर उठा रहे हैं। नस्लीय भावनाएं उभारने में अमेरिका के वर्तमान राष्ट्रपति एक आदर्श नेता के रूप में स्थापित हो रहे हैं, जो अपना चुनाव ही प्रवासियों को देश से बाहर निकालने या पड़ोसी देशों के लोगों को रोजी-रोजगार के लिए अमेरिका आने से रोकने के लिए सीमा पर दीवार बनवाने तक की योजना के लिए कुख्यात हो चुके हैं।

अगर वैश्विक स्तर पर शांति, सौहार्द, प्रेम, सह अस्तित्व, भाईचारे तथा सहयोग के समर्थक लोग और संस्थाएं इस पैशाचिक सोच के खिलाफ लामबंद नहीं हुए, तो बहुत संभव है कि भविष्य में मुसलिम चरमपंथियों, कट्टरपंथियों और आतंकवादियों की जगह गोरे आतंकवादियों और कट्टरपंथियों के आतंक से यह दुनिया और इसके बेकसूर लोग मरने न लगें! लिहाजा, इस नस्लीय घृणा और वैमनस्य के बिषबीज के महाकाय वृक्ष बनने से पूर्व ही दुनिया भर के शांति कामी लोगों को मिलजुल कर इसके निराकरण के उपाय करने ही होंगे।

● *निर्मल कुमार शर्मा, गाजियाबाद*

आरक्षण की सीमा

हाल ही में मध्यप्रदेश हाइकोर्ट ने सरकार के उस फैसले पर रोक लगा दी है जिसमें उसने राज्य में अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) का आरक्षण 14 फीसद से बढ़ाकर 27 फीसद कर दिया था। हाइकोर्ट ने कहा कि इससे राज्य में 63 फीसद आरक्षण हो जाएगा जबकि नियमानुसार 50 प्रतिशत से अधिक आरक्षण नहीं होना चाहिए। सोचने वाली बात है कि आरक्षण बढ़ने पर सामान्य छात्रों के लिए केवल 37 फीसद जगहें बचतीं।

राजनीति के कुचक्र में हमेशा सत्ता वोट पाने के लिए धीरे-धीरे आरक्षण का प्रतिशत बढ़ाती जा रही है। यह सामान्य छात्रों के प्रति अन्याय है जो अत्यधिक मेहनत करने के बावजूद नौकरी नहीं पा रहे हैं। कहीं आगे चल कर ऐसी नौबत न आ जाए कि सामान्य वर्ग को ही आरक्षण देने की जरूरत पड़ जाए! आरक्षण जरूरी है पर यह 50 फीसद से अधिक नहीं होना चाहिए।

● *इशिता शर्मा, अशोकनगर, मध्यप्रदेश*

चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

नई दिल्ली